

## Chapter तेईस

### अवन्ती ब्राह्मण का गीत

इस अध्याय में अवन्ती देश के एक साधु संन्यासी की कथा ऐसे उदाहरण के रूप में दी गई है कि दुष्टों द्वारा उत्पन्न उत्पातों तथा अपराधों को कैसे सहन किया जाना चाहिये।

दुष्टजनों के कटु वचन तीर से भी अधिक भेदने वाले होते हैं। फिर भी अवन्ती नगरी का एक साधु ब्राह्मण दुष्ट पुरुषों द्वारा सताये जाने पर भी इस मुसीबत को अपने विगत कर्मों का फल मानते हुए बड़ी ही गम्भीरता से सहता रहा। पूर्वजन्म में वह ब्राह्मण एक किसान तथा व्यापारी था। वह अत्यन्त

लालची, कंजूस तथा क्रोधी था। फलस्वरूप उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ, सारे सम्बन्धी एवं नौकर सभी तरह के भोगों से वंचित थे, इसलिए वे धीरे धीरे उसके प्रति बुरा व्यवहार करने लगे। समय की गति के साथ चोरों, परिवार वालों तथा भाग्य ने उसका सारा धन छीन लिया। अपने आप को सम्पत्ति से विहीन पाकर तथा हर व्यक्ति से परित्यक्त देख कर उस व्यक्ति में वैराग्य की तीव्र अनुभूति जगी।

उसने विचार किया कि धन जोड़ने और उसे सुरक्षित रखने में कितने प्रयास, भय, चिन्ता तथा घबराहट का सामना करना होता है। सम्पत्ति के कारण पंद्रह प्रकार की अवांछित वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं—चोरी, हिंसा, झूठ, धोखा, काम, क्रोध, गर्व, ज्वर, असहमति, घृणा, अविश्वास, लड़ाई-झगड़ा, स्त्री-अनुरक्ति, जुआ और नशा। जब उसके हृदय में यह ध्यान आया तो उसे लगा कि भगवान् श्री हरि उससे प्रसन्न हो गए हैं। उसने अनुभव किया कि भगवान् के प्रसन्न होने से ही उसके जीवन में प्रतिकूल दिखने वाली यह घटना घटी है। वह कृतज्ञ था कि उसके हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुई और उसने इसे अपनी आत्मा के उद्धार का यथार्थ साधन मान लिया। इस अवस्था में उसने अपना शेष जीवन भगवान् हरि की पूजा में लगाने का निश्चय किया और *त्रिदण्डी संन्यास* ग्रहण कर लिया। बाद में वह भीख माँगने के लिए गाँव गाँव जाता, किन्तु लोग उसे सताते रहते। वह पर्वत की भाँति अडिग रह कर सब कुछ सहता जाता। वह अपनी चुनी हुई योग-विधि में स्थिर रहते हुए एक गीत गाता था, जो *भिक्षुगीत* नाम से प्रसिद्ध है।

किसी के सुख-दुख के लिए न तो मर्त्य प्राणी, देवता, आत्मा, ग्रह, कर्मफल, न ही काल कारणस्वरूप है। प्रत्युत मन ही उनका कारण है क्योंकि मन आत्मा को भौतिक जीवन के चक्र में घुमाता रहता है। सारे दान, धर्म इत्यादि का वास्तविक उद्देश्य मन को वश में करना है। जिसव्यक्ति ने ध्यान में अपने मन को वश में कर लिया है उसे इनमें से किसी अन्य विधि को अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती। जो व्यक्ति अपने मन को स्थिर नहीं कर सकता, उसके लिए ये व्यर्थ हैं। भौतिक अहंकार की मिथ्या भावना दिव्य आत्मा को भौतिक इन्द्रिय-विषयों में बाँधती है। इसलिए अवन्ती ब्राह्मण ने भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की भूतपूर्व भगवद्भक्तों द्वारा दर्शायी पूर्ण श्रद्धा के साथ सेवा करके दुर्लभ्य भवसागर को पार करने का दृढ़ संकल्प किया।

जब मनुष्य अपनी बुद्धि को भगवान् के चरणकमलों पर एकाग्र करता है, तभी मन को पूरी तरह

वश में किया जा सकता है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए यही समस्त व्यावहारिक गुरों का सार है।

श्रीबादरायणिरुवाच  
स एवमाशंसित उद्धवेन  
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः ।  
सभाजयन्भृत्यवचो मुकुन्द-  
स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सः—उसने; एवम्—इस प्रकार; आशंसितः—विनती किये जाने पर; उद्धवेन—उद्धव द्वारा; भागवत—भक्तों के; मुख्येन—प्रमुख; दाशार्ह—दाशार्ह वंश ( यदुओं ) के; मुख्यः—प्रमुख; सभाजयन्—प्रशंसा करते हुए; भृत्य—उनके सेवक के; वचः—शब्द; मुकुन्दः—मुकुन्द, कृष्ण; तम्—उससे; आबभाषे—कहने लगे; श्रवणीय—सुनने योग्य; वीर्यः—जिसकी सर्वशक्तिमत्ता।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब भक्तों में श्रेष्ठ श्री उद्धव ने दाशार्ह प्रमुख भगवान् मुकुन्द से इस तरह सादर अनुरोध किया, तो पहले उन्होंने अपने सेवक के कथन की उपयुक्तता स्वीकार की। फिर वे भगवान्, जिनके यशस्वी कार्य सुनने के सर्वाधिक योग्य हैं, उन्हें बतलाने लगे।

श्रीभगवानुवाच  
बार्हस्पत्य स नास्त्यत्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः ।  
दुरक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; बार्हस्पत्य—हे बृहस्पति के शिष्य; सः—वह; न अस्ति—नहीं है; अत्र—इस जगत में; साधुः—साधु पुरुष; वै—निस्सन्देह; दुर्जन—असभ्य पुरुषों द्वारा; ईरितैः—प्रयोग में लाए गए; दुरक्तैः—अपमानजनक शब्दों से; भिन्नम्—विचलित; आत्मानम्—अपना मन; यः—जो; समाधातुम्—वश में करने में; ईश्वरः—समर्थ हो।

श्रीकृष्ण ने कहा : हे बृहस्पति-शिष्य, इस जगत में कोई भी ऐसा साधु पुरुष नहीं है, जो असभ्य व्यक्तियों के अपमानजनक शब्दों से विचलित हुए अपने मन को फिर से स्थिर कर सके।

तात्पर्य : वर्तमान युग में आध्यात्मिक साक्षात्कार के मार्ग का मजाक उड़ाने के लिए चतुर्दिक प्रचार है, जिससे साधु भक्त भी मानव समाज की प्रगति को रुकते देख कर विचलित हो उठते हैं। फिर भी भगवान् के भक्त को हर प्रकार का निजी अपमान सहना चाहिए, भले ही वह भगवान् या उनके भक्त के प्रति अपराध को सहन न कर सके।

न तथा तप्यते विद्धः पुमान्बाणैस्तु मर्मगैः ।  
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषुवः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उसी तरह से; तप्यते—पीड़ा पहुँचाता है; विद्धः—बेधा गया; पुमान्—व्यक्ति; बाणैः—बाणों के द्वारा; तु—किन्तु; मर्म-गैः—हृदय तक जाने वाला, मर्मभेदी; यथा—जिस प्रकार; तुदन्ति—चुभते हैं; मर्म-स्थाः—हृदय तक पहुँचने वाले; हि—निस्सन्देह; असताम्—दुष्ट पुरुषों के; परुष—कठोर ( वचन ); इषवः—तीर ।

छाती को बेध कर हृदय तक पहुँचने वाले पैने बाण उतना कष्ट नहीं देते जितने कि असभ्य पुरुषों द्वारा बोले जाने वाले कटु, अपमानजनक शब्दरूपी तीर जो हृदय के भीतर धँस जाते हैं ।

कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव ।

तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

कथयन्ति—कहते हैं; महत्—महान्; पुण्यम्—पवित्र; इतिहासम्—कथा; इह—इस सम्बन्ध में; उद्धव—हे उद्धव; तम्—उसे; अहम्—मैं; वर्णयिष्यामि—कहूँगा; निबोध—सुनो; सु—समाहितः—ध्यानपूर्वक ।

हे उद्धव, इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त पवित्र कथा कही जाती है, जिसे अब मैं तुमसे कहूँगा ।

तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो ।

तात्पर्य : अब भगवान् श्री उद्धव से एक ऐतिहासिक कथा कहेंगे जिससे यह शिक्षा मिलती है कि अन्यों के द्वारा किये गये अपमान को कैसे सहन करना चाहिए ।

केनचिद्भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः ।

स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

केनचित्—किसी; भिक्षुणा—संन्यासी द्वारा; गीतम्—गाया गया; परिभूतेन—अपमानित किया गया; दुर्जनैः—अपवित्र लोगों द्वारा; स्मरता—स्मरण करते हुए; धृति-युक्तेन—धैर्यपूर्वक; विपाकम्—परिणामों को; निज-कर्मणाम्—अपने विगत कर्मों के ।

एक बार किसी संन्यासी को दुर्जनों द्वारा नाना प्रकार से अपमानित किया गया । किन्तु उसने धैर्यपूर्वक स्मरण किया कि वह अपने ही विगत कर्मों का फल भोग रहा है । मैं तुमसे यह इतिहास तथा उसने जो कुछ कहा था उसे सुनाऊँगा ।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती की टीका इस प्रकार है—

प्रायः जो लोग भौतिकतावादी पथ को त्याग कर वैराग्य में संलग्न होते हैं, उन पर दुर्जन आक्रमण करते हैं । किन्तु यह विवेचन सतही है क्योंकि जो दंड मिलता है, वह वास्तव में विगत कर्म का संचित फल होता है ।

जब पिछले पापों के अवशेष प्रस्तुत किये जाते हैं, तो कुछ वैरागी सहनशीलता नहीं दिखलाते,

अतएव उन्हें पुनः अपवित्र जीवन में प्रवेश करना होता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु उपदेश देते हैं कि मनुष्य को वृक्ष की तरह सहनशील बनना चाहिए। यदि ईर्ष्यालु लोग भगवान् के भक्ति-मार्ग में नवदीक्षित पर आक्रमण करते हैं, तो उसे इसे अपने विगत कर्मों का फल मानना चाहिए। उसे बुद्धिमान बनना चाहिए और “जैसे को तैसा” सिद्धान्त का बहिष्कार करके उसे भावी दुख से बचना चाहिए। यदि ईर्ष्यालु लोगों से शत्रु भाव न रखा जाय तो वे स्वयं उसे अकेला छोड़ देंगे।”

अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया ।

वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अवन्तिषु—अवन्ती देश में; द्विजः—ब्राह्मण; कश्चित्—कोई; आसीत्—था; आढ्य-तमः—अत्यन्त धनाढ्य; श्रिया—ऐश्वर्य से; वार्ता—व्यापार से; वृत्तिः—अपनी जीविका चलाते हुए; कदर्यः—कंजूस; तु—लेकिन; कामी—विषयी; लुब्धक्—लालची; अति-कोपनः—अत्यन्त क्रोध करने वाला।

अवन्ती देश में किसी समय कोई ब्राह्मण रहता था, जो अत्यन्त धनी था और समस्त ऐश्वर्यों से युक्त था तथा व्यापार-कार्य में लगा रहता था। किन्तु वह अत्यन्त कंजूस, कामी, लालची तथा क्रोधी था।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार अवन्ती देश मालवा का जनपद है। यह ब्राह्मण अत्यन्त धनी था और कृषि का व्यापार, लेन-देन आदि करता था। कंजूस होने के कारण जब उसकी गाढ़ी कमाई जाती रही, तो उसे बहुत पीड़ा हुई, जैसाकि स्वयं भगवान् बतलायेंगे।

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः ।

शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातयः—सम्बन्धीजन; अतिथयः—तथा अतिथिगण; तस्य—उसके; वाक्-मात्रेण अपि—शब्दों से भी; न अर्चिताः—आदरित नहीं होते थे; शून्य-अवसथे—धर्म तथा इन्द्रियतृप्ति से विहीन घर में; आत्मा—स्वयं; अपि—भी; काले—उपयुक्त समय में; कामैः—इन्द्रिय-सुख से; अनर्चितः—अतृप्त।

उसका घर धर्म तथा वैध इन्द्रियतृप्ति से विहीन था, उसमें पारिवारिक जनों तथा अतिथियों का ठीक से, यहाँ तक कि शब्दों से भी, आदर नहीं होता था। वह उपयुक्त अवसरों पर अपने शरीर की भी इन्द्रियतृप्ति नहीं होने देता था।

दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुहान्ते पुत्रबान्धवाः ।  
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन्प्रियम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दुःशीलस्य—बुरे चरित्र वाला; कदर्यस्य—कंजूस का; द्रुहान्ते—दुश्मनी कर लिया; पुत्र—उसके पुत्रों ने; बान्धवाः—तथा सम्बन्धीजन; दाराः—उसकी पत्नी; दुहितरः—उसकी पुत्रियाँ; भृत्याः—उसके नौकर; विषण्णाः—ऊबे हुए; न आचरन्—आचरण नहीं करते थे; प्रियम्—स्नेहपूर्वक ।

चूँकि वह कठोर हृदय तथा कंजूस था, इसलिए उसके पुत्र, उसके ससुराल वाले, उसकी पत्नी, उसकी पुत्रियाँ तथा नौकर उसके प्रति वैर-भाव रखने लगे। ऊब जाने के कारण वे उससे कभी भी स्नेहपूर्ण व्यवहार नहीं करते थे।

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः ।  
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस पर; एवम्—इस प्रकार; यक्ष-वित्तस्य—जो यक्षों की तरह अपनी सम्पत्ति को बिना खर्च रखता था ( यक्ष कुवेर के कोष की रखवाली करते हैं ); च्युतस्य—विहीन; उभय—दोनों के; लोकतः—लोक ( यह जीवन तथा अगला ); धर्म—धार्मिकता; काम—तथा इन्द्रियतृप्ति; विहीनस्य—विहीन; चुक्रुधुः—क्रुद्ध हो गये; पञ्च-भागिनः—पाँच नियत गृहस्थ यज्ञों के देवता ।

इस तरह पाँच पारिवारिक यज्ञों के अधिष्ठाता देव उस ब्राह्मण से क्रुद्ध हो उठे जो कंजूस होने के कारण अपनी सम्पत्ति की रखवाली यक्ष की तरह करता था और जिसका न इस जगत में, न ही उस लोक में कोई अच्छा गन्तव्य था और जो धर्म तथा विषय-भोग से पूरी तरह विहीन हो गया था।

तदवध्यानविस्त्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद ।  
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्—उनके; अवध्यान—उसकी उपेक्षा से; विस्त्रस्त—विहीन; पुण्य—पुण्य का; स्कन्धस्य—जिसका अंश; भूरि-द—हे वदान्य उद्धव; अर्थः—सम्पत्ति; अपि—निस्सन्देह; अगच्छत् निधनम्—नष्ट हो गया; बहु—अधिक; आयास—प्रयास का; परिश्रमः—परिश्रम से युक्त ।

हे वदान्य उद्धव, इन देवताओं की उपेक्षा करने से उसके पुण्य तथा उसकी सारी सम्पत्ति का भंडार खाली हो गया। उसके बारम्बार निःशेष प्रयास द्वारा संचित भंडार पूरी तरह समाप्त हो गया।

तात्पर्य : ब्राह्मण के पुण्य का भण्डार उस सूखी डाल जैसा हो गया जिसमें फल अथवा फूल नहीं

लगते। श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि ब्राह्मण में पुण्य का लेश बचा हुआ था, जो मोक्ष की आशा से भगवान् के प्रति निर्दिष्ट था। उस पुण्यरूपी शाखा का शुद्ध अंश, बिना मुरझाया रह गया जिससे अन्त में ज्ञान का फल प्राप्त हुआ।

ज्ञात्यो जगृहुः किञ्चित्किञ्चिदस्यव उद्धव ।

दैवतः कालतः किञ्चिद्ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातयः—सम्बन्धी; जगृहुः—हर लिया; किञ्चित्—कुछ; किञ्चित्—कुछ; दस्यवः—चोर; उद्धव—हे उद्धव; दैवतः—भाग्य से; कालतः—काल द्वारा; किञ्चित्—कुछ; ब्रह्म-बन्धोः—तथाकथित ब्राह्मण का; नृ—सामान्य लोगों द्वारा; पार्थिवात्—तथा उच्च सरकारी अधिकारियों द्वारा।

हे उद्धव, इस तथाकथित ब्राह्मण का कुछ धन उसके समबन्धियों ने, कुछ चोरों ने, कुछ भाग्य ने, कुछ काल के फेर ने, कुछ सामान्य जनों ने तथा कुछ सरकारी अधिकारियों ने ले लिया।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि वह तथाकथित ब्राह्मण अपना धन खर्च नहीं करना चाहता था, फिर भी उसकी पत्नी तथा अन्य सम्बन्धी उसके धन का कुछ अंश बलपूर्वक निकाल लेते थे। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार दैव यहाँ पर घर में लगी आग तथा अन्य आकस्मिक विपत्ति का सूचक है। कालतः ऋतुओं की अनियमितताओं के कारण फसलों के विनाश तथा ऐसी ही अन्य घटनाओं का सूचक है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि किसी को अपने आप को ब्राह्मण घोषित नहीं करना चाहिए, अपितु उसे चाहिए कि वह भगवान् के सेवक के रूप में अपनी आदि पहचान को समझे। जो व्यक्ति अपने को ब्राह्मण घोषित करता है किन्तु भौतिकतावादी मनोवृत्ति रखता है, वह असली ब्राह्मण नहीं, अपितु ब्रह्म-बन्धु या तथाकथित ब्राह्मण है। वैदिक आदेशों का पालन करने वाले, भगवान् विष्णु के विनीत भक्त, अपने को अभागा तथा भगवद्धाम को समझ पाने में अक्षम कहते हैं। वे गर्वित होकर अपने को ब्राह्मण नहीं घोषित करते, किन्तु जो चतुर हैं, वे जानते हैं कि ऐसे विनीत भक्तगण ही वास्तविक ब्राह्मण हैं जिनके हृदय सतोगुण के द्वारा विमल होते रहते हैं।

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः ।

उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥ १२ ॥

## शब्दार्थ

सः—वह; एवम्—इस तरह; द्रविणे—जब उसकी सम्पत्ति; नष्टे—नष्ट हो गई; धर्म—धार्मिकता; काम—तथा इन्द्रिय-भोग; विवर्जितः—से रहित; उपेक्षितः—उपेक्षित; च—तथा; स्व-जनैः—अपने पारिवारिक जनों द्वारा; चिन्ताम्—चिन्ता; आप—प्राप्त किया; दुरत्ययाम्—असह्य।

अन्त में जब उसकी सम्पत्ति पूरी तरह नष्ट हो गई, तो वह ब्राह्मण जिसने कभी भी धर्म या इन्द्रिय-भोग नहीं किया था, अपने पारिवारिक जनों से उपेक्षित रहने लगा। इस प्रकार वह असह्य चिन्ता का अनुभव करने लगा।

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः ।

खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥ १३ ॥

## शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; ध्यायतः—सोचते हुए; दीर्घम्—दीर्घकाल तक; नष्ट-रायः—सम्पत्ति नष्ट होने पर; तपस्विनः—पीड़ा अनुभव करते हुए; खिद्यतः—शोक करते हुए; बाष्प-कण्ठस्य—अश्रु से रुद्ध कण्ठ; निर्वेदः—वैराग्य की भावना; सु-महान्—अत्यन्त महान्; अभूत्—उठी।

अपनी सारी सम्पत्ति खो जाने से उसे महान् पीड़ा तथा शोक हुआ। उसका गला आँसुओं से रुंध गया और वह दीर्घकाल तक अपनी सम्पत्ति के बारे में सोचता रहा। तब उसके मन में वैराग्य की प्रबल अनुभूति जाग्रत हुई।

तात्पर्य : ब्राह्मण को पुण्य जीवन का प्रशिक्षण मिला था किन्तु उसकी भूतपूर्व अच्छाई उसके अपराधमूलक आचरण से प्रच्छन्न हो चुकी थी। अन्त में उसकी पुरानी शुद्धता पुनः उसके भीतर जाग्रत हुई।

स चाहेदमहो कष्टं वृथात्मा मेऽनुतापितः ।

न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः ॥ १४ ॥

## शब्दार्थ

सः—वह; च—तथा; आह—बोला; इदम्—यह; अहो—ओह, हाय; कष्टम्—कष्टप्रद दुर्भाग्य; वृथा—व्यर्थ ही; आत्मा—आत्मा; मे—मेरा; अनुतापितः—सताया हुआ; न—नहीं; धर्माय—धर्म के लिए; न—नहीं; कामाय—इन्द्रियतृप्ति के लिए; यस्य—जिसका; अर्थ—सम्पत्ति के लिए; आयासः—श्रम; ईदृशः—इस तरह का।

ब्राह्मण इस प्रकार बोला : हाय! क्या दुर्भाग्य है मेरा! मैंने उस धन के लिए इतना कठिन परिश्रम करते हुए व्यर्थ ही अपने को कष्ट पहुँचाया जो न तो धर्म के लिए था, न ही भौतिक भोग के लिए था।



प्रायेणाथाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन ।

इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—सामान्यतया; अर्थाः—सम्पत्ति की वस्तुएँ; कदर्याणाम्—कंजूसों की; न—नहीं; सुखाय—सुख के लिए; कदाचन—किसी समय; इह—इस जीवन में; च—दोनों; आत्म—अपना; उपतापाय—कष्ट पहुँचाने के लिए; मृतस्य—तथा मरे हुए का; नरकाय—नरक की प्राप्ति में; च—तथा।

सामान्यतया कंजूसों की सम्पत्ति उन्हें कभी कोई सुख नहीं दे पाती। इस जीवन में उनका आत्म-पीड़न करती है और उनके मरने पर उन्हें नरक भेजती है।

तात्पर्य : कंजूस व्यक्ति करणीय धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में भी अपना धन खर्च करने से डरता है। वह ईश्वर तथा लोगों को अप्रसन्न करके नरक जाता है।

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः ।

लोभः स्वल्पोऽपि तान्हेन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यशः—यश; यशस्विनाम्—सुप्रसिद्ध व्यक्तियों का; शुद्धम्—शुद्ध; श्लाघ्याः—प्रशंसनीय; ये—जो; गुणिनाम्—गुणवानों के; गुणाः—गुण; लोभः—लालच; सु-अल्पः—थोड़ा; अपि—भी; तान्—उनको; हेन्ति—नष्ट करता है; श्वित्रः—श्वेत कुष्ठ; रूपम्—शारीरिक सौन्दर्य; इव—सदृश; ईप्सितम्—मोहक।

प्रसिद्ध व्यक्ति की जो भी शुद्ध प्रसिद्धि होती है और गुणवान् में जो भी प्रशंसनीय गुण रहते हैं, वे किञ्चित् मात्र लालच से उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह आकर्षक शारीरिक सौन्दर्य रंजमात्र श्वेत कुष्ठ से नष्ट हो जाता है।

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।

नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अर्थस्य—सम्पत्ति के; साधने—कमाने में; सिद्धे—उपलब्धि में; उत्कर्षे—वृद्धि में; रक्षणे—रक्षा करने में; व्यये—खर्च में; नाश—हानि में; उपभोगे—तथा उपभोग में; आयासः—श्रम; त्रासः—भय; चिन्ता—चिन्ता; भ्रमः—भ्रम; नृणाम्—मनुष्यों के लिए।

सभी मनुष्यों को सम्पत्ति की कमाई, प्राप्ति, वृद्धि, रक्षा, व्यय, हानि तथा उपभोग में महान् श्रम, भय, चिन्ता तथा भ्रम का अनुभव होता है।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।

भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥ १८ ॥

एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।  
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्तेयम्—चोरी; हिंसा—हिंसा; अनृतम्—असत्य भाषण; दम्भः—दुहरा बर्ताव; कामः—काम, विषय-वासना; क्रोधः—क्रोध; स्मयः—चिन्ता; मदः—घमंड; भेदः—भेद-भाव; वैरम्—शत्रुता; अविश्वासः—विश्वास की कमी; संस्पर्धा—बराबरी, होड़; व्यसनानि—खतरे ( स्त्री, जुए तथा नशे से उत्पन्न ); च—तथा; एते—ये; पञ्चदश—पन्द्रह; अनर्थाः—अवांछित वस्तुएँ; हि—निस्सन्देह; अर्थ—मूलाः—सम्पत्ति पर आधारित; मताः—विख्यात हैं; नृणाम्—मनुष्यों द्वारा; तस्मात्—इसलिए; अनर्थम्—अवांछित; अर्थ-आख्यम्—वांछित कही जाने वाली सम्पत्ति; श्रेयः-अर्थी—जीवन का चरम लक्ष्य चाहने वाला; दूरतः—दूर से ही; त्यजेत्—छोड़ दे।

चोरी, हिंसा, असत्य भाषण, दुहरा बर्ताव, काम, क्रोध, चिन्ता, गर्व, झगड़ा-लड़ाई, शत्रुता, अविश्वास, ईर्ष्या, स्त्रियों के द्वारा उत्पन्न संकट, जुआ खेलना तथा नशा करना—ये पंद्रह दुर्गुण सम्पत्ति-लोभ के कारण मनुष्यों को दूषित बनाने वाले हैं। यद्यपि ये दुर्गुण हैं किन्तु लोग भ्रमवश इनको महत्त्व देते हैं। इसलिए जिस व्यक्ति को जीवन का असली लाभ उठाना हो, वह अवांछित भौतिक सम्पत्ति से अपने को अलग रखे।

तात्पर्य : अनर्थम् अर्थाख्यम् शब्द अर्थात् अवांछित सम्पत्ति उस सम्पत्ति के सूचक हैं जिसे भगवान् की सेवा में नहीं लगाया जा सकता। ऐसे फालतू धन या सम्पत्ति से मनुष्य में उपर्युक्त दुर्गुण आ जाते हैं, अतएव इसका परित्याग करना चाहिए।

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।  
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

भिद्यन्ते—विलग्न हो जाते हैं; भ्रातरः—भाई; दाराः—पत्नी; पितरः—माता-पिता; सुहृदः—मित्र; तथा—और; एक—मानो एक; आस्निग्धाः—अत्यन्त प्रिय; काकिणिना—छोटे-से सिक्रे ( कौड़ी ) से; सद्यः—तुरन्त; सर्वे—सभी; अरयः—शत्रु; कृताः—किया गया।

यहाँ तक कि मनुष्य के सगे भाई, पत्नी, माता-पिता तथा मित्र जो उससे प्रेम से बद्ध थे, तुरन्त ही अपना स्नेह-सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और एक कौड़ी के कारण शत्रु बन जाते हैं।

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ।  
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अर्थेन—सम्पत्ति से; अल्पीयसा—तुच्छ, नगण्य; हि—भी; एते—वे; संरब्धाः—क्षुब्ध; दीप्त—क्रुद्ध; मन्यवः—उनका क्रोध; त्यजन्ति—त्याग देते हैं; आशु—बहुत जल्दी; स्पृधः—झगड़ालू बन कर; घ्नन्ति—नष्ट कर देते हैं; सहसा—तुरन्त; उत्सृज्य—बहिष्कार करके; सौहृदम्—शुभकामना।

ये सम्बन्धी तथा मित्रगण थोड़े-से भी धन के लिए अत्यन्त क्षुब्ध हो उठते हैं और क्रोध से आग-बबूला बन जाते हैं। प्रतिद्वन्दी बन कर वे तुरन्त सारी शुभकामनाएँ छोड़ देते हैं और क्षण-भर में ही उसका त्याग करके उसकी हत्या तक कर देते हैं।

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद्विद्वजाच्छयताम् ।  
तदनाहत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—प्राप्त करके; जन्म—जन्म; अमर—देवताओं द्वारा; प्रार्थ्यम्—कामना किया गया; मानुष्यम्—मनुष्य का; तत्—और उस; द्विज-आच्छयताम्—श्रेष्ठ द्विज होने के पद में; तत्—उसे; अनाहत्य—अनादर करके; ये—जो लोग; स्व-अर्थम्—निजी हित का; घ्नन्ति—नष्ट करते हैं; यान्ति—जाते हैं; अशुभाम्—अशुभ; गतिम्—गन्तव्य को।

जो लोग देवताओं द्वारा भी प्रार्थित मनुष्य जीवन प्राप्त करते हैं और उस मनुष्य जन्म में सर्वोत्तम ब्राह्मण पद को प्राप्त होते हैं, वे परम भाग्यशाली हैं। यदि वे इस महत्त्वपूर्ण अवसर का अनादर करते हैं, तो वे निश्चय ही अपने निजी हित का हनन करते हैं और परम दुखद अन्त को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टीका इस प्रकार है : मनुष्य का जन्म देवताओं, भूत-प्रेतों, पशुओं, वृक्षों, निर्जीव पत्थरों इत्यादि से उत्तम है क्योंकि देवताओं को केवल स्वर्गिक आनन्द मिलता है तथा अन्य जीव-योनियों में अत्यधिक कष्ट है। केवल मनुष्य जीवन ऐसा है, जिसमें वह अपने जीवन के चरम लाभ के विषय में गम्भीरता से विचार करता है। इसीलिए मनुष्य जीवन देवताओं के जीवन से भी अधिक काम्य है। मनुष्य जीवन के अन्तर्गत उच्च कोटि का ब्राह्मण-पद निश्चय ही, सर्वाधिक वांछनीय है। किन्तु यदि ब्राह्मण भगवद्भक्ति त्यागकर अपनी जाति की प्रतिष्ठा के लिए शूद्रवत् कठिन श्रम करता है, तो वह निश्चय ही भौतिक इन्द्रियतृप्ति के पद पर होता है। ब्राह्मणों की विशिष्ट योग्यता तो उनका आध्यात्मिक ज्ञान है, जिसके द्वारा वे हर जीव को भगवान् के नित्य दास के रूप में पहचानते हैं। मिथ्या अहंकार से रहित ब्राह्मण अपने को तिनके से भी छोटा मान कर और सहनशील होकर सभी जीवों को सम्मान देता है। सारे मनुष्यों को और ब्राह्मणों को तो विशेष रूप से, कृष्णभावनामृत अर्थात् कृष्ण-भक्ति की उपेक्षा करके अपने ही हितों का हन्ता नहीं बनना चाहिए। ऐसी उपेक्षा से भावी कष्ट का मार्ग प्रशस्त होता है।

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।  
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

स्वर्ग—स्वर्ग; अपवर्गयोः—तथा मोक्ष का; द्वारम्—द्वार; प्राप्य—प्राप्त करके; लोकम्—मनुष्य जीवन को; इमम्—इस;  
पुमान्—मनुष्य; द्रविणे—सम्पत्ति के प्रति; कः—कौन; अनुषज्जेत—अनुरक्त होगा; मर्त्यः—मरणशील; अनर्थस्य—व्यर्थता के;  
धामनि—धाम में।

ऐसा मर्त्य व्यक्ति कौन होगा जो इस मनुष्य जीवन को जो कि स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार है,  
प्राप्त करके भौतिक सम्पत्ति रूपी व्यर्थ के धाम के प्रति अनुरक्त होगा ?

तात्पर्य : जिस वस्तु को मनुष्य अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रयोग में लाना चाहता है, वह भौतिक सम्पत्ति कहलाती है, किन्तु भगवान् की प्रेमाभक्ति में प्रयुक्त होने वाली साज-सामग्री आध्यात्मिक मानी जाती है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सारी भौतिक सम्पत्ति भगवान् की भक्ति में काम आने के लिए त्याग दे। जिस व्यक्ति के पास भव्य महल हो उसे भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित करना चाहिए और कृष्णभावनामृत के प्रचार हेतु नियमित कार्यक्रमों की व्यवस्था करनी चाहिए। इसी तरह, सम्पत्ति का उपयोग भगवान् के मन्दिर बनवाने तथा भगवान् विषयक साहित्य के प्रकाशन में करना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी भौतिक सम्पत्ति भगवान् की सेवा में न लगाकर उसका अंधाधुंध परित्याग करता है, वह यह नहीं समझता कि हर वस्तु भगवान् की ही है। ऐसा अन्धाधुन्ध त्याग इस भौतिक भाव पर आधारित होता है कि यह सम्पत्ति मेरी बनी रह सकती थी लेकिन अब मुझे इसकी चाह नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु ईश्वर की है—यह जानते हुए मनुष्य इस जगत की वस्तुओं का न तो भोग करने का प्रयास करता है और न ही उनका वहिष्कार करता है, अपितु उन्हें भगवान् की सेवा में लगा देता है।

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन्बन्धुंश्च भागिनः ।  
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

देव—देवतागण; ऋषि—ऋषिगण; पितृ—पितरगण; भूतानि—तथा सामान्य जीव; ज्ञातीन्—निकट के सगे-सम्बन्धियों;  
बन्धून्—विस्तारित परिवार; च—तथा; भागिनः—हिस्सा बटाने वाले; असंविभज्य—न बाँट कर; च—तथा; आत्मानम्—अपने को; यक्ष-वित्तः—जिसकी सम्पत्ति यक्ष की सम्पत्ति जैसी; पतति—गिरता है; अधः—नीचे।

जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को उचित भागीदारों—देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा सामान्य जीवों में तथा अपने निकट सम्बन्धियों, ससुराल वालों और स्वयं में वितरित नहीं कर देता, वह मात्र यक्ष की तरह अपनी सम्पत्ति को बनाये रखता है और अधोगति को प्राप्त होगा।

तात्पर्य : जो व्यक्ति उपर्युक्त अधिकृत भागीदारों को अपनी सम्पत्ति में हिस्सा नहीं देता और स्वयं भी उस सम्पत्ति का भोग नहीं करता, वह अवश्य ही जीवन की अनन्त समस्याओं से घिरता रहेगा।

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम् ।  
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

व्यर्थया—व्यर्थ; अर्थ—सम्पत्ति के; ईहया—प्रयास से; वित्तम्—धन; प्रमत्तस्य—उन्मत्त हुए; वयः—नौजवान; बलम्—बल; कुशलाः—विवेकवान्; येन—जिसके द्वारा; सिध्यन्ति—सिद्ध बनते हैं; जरठः—वृद्ध व्यक्ति; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; साधये—मैं प्राप्त कर सकता हूँ।

विवेकशील व्यक्ति अपने धन, यौवन तथा बल को सिद्धि प्राप्त करने में लगाने में सक्षम होते हैं। किन्तु मैंने उत्तेजित होकर अपनी सम्पत्ति के संवर्धन के व्यर्थ के प्रयास में ही इनको लुटा दिया है। अब वृद्ध हो चुकने पर मैं क्या प्राप्त कर सकता हूँ?

कस्मात्सङ्क्लिश्यते विद्वान्व्यर्थयार्थेहयासकृत् ।  
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कस्मात्—क्यों; सङ्क्लिश्यते—कष्ट भोगता है; विद्वान्—विद्वान् व्यक्ति; व्यर्थया—व्यर्थ की; अर्थ—ईहया—सम्पत्ति की खोज में; असकृत्—निरन्तर; कस्यचित्—किसी का; मायया—मायाशक्ति से; नूनम्—निश्चय ही; लोकः—जगत; अयम्—यह; सु-विमोहितः—अत्यधिक मोहग्रस्त।

बुद्धिमान मनुष्य सम्पत्ति पाने के लिए व्यर्थ के सतत् प्रयासों से कष्ट क्यों भोगे? निस्सन्देह, यह सारा संसार किसी की मायाशक्ति से अत्यधिक मोहग्रस्त है।

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ।  
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वीत जन्मदैः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

किम्—किस काम का; धनैः—विभिन्न प्रकारों के धन से; धन-दैः—धन देने वाले; वा—अथवा; किम्—क्या लाभ; कामैः—इन्द्रिय-विषयों से; वा—अथवा; काम-दैः—ऐसी इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वालों से; उत—अथवा; मृत्युना—मृत्यु द्वारा; ग्रस्यमानस्य—पकड़े हुए व्यक्ति का; कर्मभिः—सकाम कर्मों से; वा उत—अथवा; जन्म-दैः—अगला जन्म देने वाले।

जो व्यक्ति मृत्यु के चंगुल में जकड़ा हो, उसके लिए धन या उस धन को देने वाले, इन्द्रियतृप्ति अथवा इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले या किसी प्रकार का सकाम कर्म जो उसे इस भौतिक जगत में फिर से जन्म दिलाये, इन सबसे क्या लाभ है?

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ।  
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; मे—मुझसे; भगवान्—भगवान्; तुष्टः—तुष्ट; सर्व-देव-मयः—समस्त देवताओं से युक्त; हरिः—भगवान्  
विष्णु; येन—जिससे; नीतः—मैं लाया गया; दशाम्—स्थिति तक; एताम्—इस; निर्वेदः—विराग; च—तथा; आत्मनः—  
अपनी; प्लवः—नाव ( भवसागर से पार ले जाने वाली )।

समस्त देवों से युक्त भगवान् हरि अवश्य ही मुझ पर प्रसन्न हैं। उन्होंने ही मुझे इस कष्टमय  
स्थिति तक पहुँचाया है और वैराग्य का अनुभव करने के लिए बाध्य कर दिया है, जो इस  
भवसागर को पार कराने की नाव है।

तात्पर्य : ब्राह्मण यह जान गया कि सकाम कर्मों के फलस्वरूप विविध इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने  
वाले देवतागण जीवन का सर्वोच्च लाभ प्रदान नहीं कर सकते। जब ब्राह्मण की सारी सम्पत्ति जाती  
रही, तो उसकी समझ में आया कि सर्वदेवमय भगवान् ने उसे इन्द्रियतृप्ति प्रदान करके नहीं अपितु उसे  
भौतिक भोग के सागर से बचाकर सर्वोच्च सिद्धि प्रदान की है। इस तरह धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष  
का अनुशीलन करने के अवसर से वंचित, वह ब्राह्मण विरक्त बन गया और उसके हृदय में दिव्य ज्ञान  
का उदय हुआ।

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः ।  
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात्सिद्ध आत्मनि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं; काल-अवशेषेण—बचे हुए समय से; शोषयिष्ये—कम से कम कर दूँगा; अङ्गम्—यह शरीर; आत्मनः—  
अपना; अप्रमत्तः—मोहित न होने वाला; अखिल—समस्त; स्व-अर्थे—आत्म-हित में; यदि—यदि; स्यात्—कोई ( समय )  
बचता है, तो; सिद्धः—सन्तुष्ट; आत्मनि—अपने भीतर।

यदि मेरे जीवन का कोई समय शेष है, तो मैं तपस्या करूँगा और अपने शरीर की  
आवश्यकताओं को कम से कम कर दूँगा। अब मैं और अधिक भ्रम में न पड़ कर जीवन के  
समग्र आत्म-हित में लग कर अपने आप में तुष्ट रहूँगा।

तत्र मामनुमोदेरन्देवास्त्रिभुवनेश्वराः ।  
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्र—इस सम्बन्ध में; माम्—मुझसे; अनुमोदेरन्—प्रसन्न हों; देवाः—देवतागण; त्रि-भुवन—तीनों लोकों के; ईश्वराः—नियन्ता;  
मुहूर्तेन—क्षण-भर में; ब्रह्मलोकम्—वैकुण्ठ-लोक; खट्वाङ्गः—राजा खट्वाङ्ग ने; समसाधयत्—प्राप्त कर लिया।

इस तरह इन तीनों लोकों के अधिनायक देवता मुझ पर कृपा करें। निस्सन्देह, महाराज खट्वांग को क्षण-भर में वैकुण्ठ-लोक प्राप्त हो गया था।

तात्पर्य : अवन्ती के ब्राह्मण ने सोचा कि यद्यपि वह वृद्ध हो चुका है और किसी भी क्षण मर सकता है, किन्तु वह महाराज खट्वांग के आदर्श का अनुसरण कर सकता है जिन्हें क्षण-भर में भगवान् की कृपा प्राप्त हुई थी। महाराज खट्वांग का वर्णन श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में आ चुका है। वे देवताओं की ओर से वीरतापूर्वक लड़े थे और देवताओं ने उन्हें मुँहमाँगा वर माँगने को कहा था। महाराज ने अपनी शेष आयु जाननी चाही किन्तु दुर्भाग्य से एक क्षण ही आयु शेष थी। इसलिए राजा ने भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण की और फिर वैकुण्ठ-लोक प्राप्त किया। अवन्ती का ब्राह्मण इसी आदर्श का अनुसरण करना चाह रहा था—उसने आशा की कि भगवान् के भक्त देवताओं के आशीर्वाद से वह इस शरीर को त्यागने के पूर्व पूरी तरह कृष्णभावनाभावित हो सकेगा।

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः ।

उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन्शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; इति—इस प्रकार; अभिप्रेत्य—निष्कर्ष पर पहुँच कर; मनसा—मन से; हि—निस्सन्देह; आवन्त्यः—अवन्ती जनपद का; द्विज-सत्-तमः—अत्यन्त पवित्र ब्राह्मण; उन्मुच्य—खोल कर; हृदय—हृदय की; ग्रन्थीन्—(इच्छाओं की) गाँठों को; शान्तः—शान्त; भिक्षुः—भिक्षुक संन्यासी; अभूत्—हो गया; मुनिः—मौन।

भगवान् कृष्ण ने कहा : वह दृढ़ संकल्प वाला सर्वोत्तम अवन्ती ब्राह्मण अपने हृदय की इच्छारूपी ग्रंथियों को खोलने में समर्थ हो गया। तब उसने शान्त तथा मौन संन्यासी साधु की भूमिका ग्रहण कर ली।

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः ।

भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; चचार—घूमने वाला; महीम्—पृथ्वी पर; एताम्—इस; संयत—नियंत्रित; आत्म—अपनी चेतना; इन्द्रिय—इन्द्रियों; अनिलः—तथा प्राण-वायु; भिक्षा-अर्थम्—भीख माँगने के लिए; नगर—शहरों; ग्रामान्—तथा गाँवों में; असङ्गः—बिना किसी संगी के; अलक्षितः—अपने को न जनाते हुए; अविशत्—प्रविष्ट हुआ।

वह अपनी बुद्धि, इन्द्रियों तथा प्राण-वायु को अपने वश में रखते हुए पृथ्वी पर विचरण करने लगा। भिक्षा माँगने के लिए वह विविध नगरों तथा ग्रामों में अकेले ही यात्रा करता। उसने

अपने उच्च आध्यात्मिक पद का प्रचार नहीं किया, इसलिए अन्य लोग उसे पहचान नहीं पाते थे।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार त्रिदंडी सन्यास ग्रहण करना इस बात का मुख्य संकेत है कि उसने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है। वैष्णव संन्यासी के तीन दण्ड शरीर, मन तथा वाणी को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाकर उन्हें वश में करने के सूचक हैं। इस विधि से वह वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बन जाता है जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने संस्तुति की है। शरीर, मन तथा वाणी के कठोर संयम से सहिष्णुता का गुण प्रबल बनता है और तब मनुष्य अन्यो को क्षमा करने, अपना समय व्यर्थ न गँवाने, इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति, अपने कार्य में झूठे अहंकार का अभाव तथा मोक्ष की लालसा न रखना जैसे अन्य गुणों को प्रकट करता है। इस तरह वह उन भौतिकतावादी लोगों की मनोवृत्ति को त्यागता है, जो पारस्परिक चापलूसी रूपी तथाकथित स्नेहमय सम्बन्ध स्थापित करते हैं और इन्द्रियतृप्ति के लिए एक-दूसरे का शोषण करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति महात्माओं के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनामृत के कठिन मार्ग को अपनाता है, वह भगवान् की शरण प्राप्त कर सकता है।

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः ।

दृष्ट्वा पर्यभवन्भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; वै—निस्सन्देह; प्रवयसम्—वृद्ध; भिक्षुम्—भिखारी को; अवधूतम्—मलिन; असत्—निम्न श्रेणी के; जनाः—लोग; दृष्ट्वा—देख कर; पर्यभवन्—अनादर करते हुए; भद्र—हे दयालु उद्भव; बह्वीभिः—अनेक; परिभूतिभिः—अपमानों से।

हे दयालु उद्भव, उसे वृद्ध, मलिन भिखारी के रूप में देख कर ऊधमी व्यक्ति अनेक प्रकार

से उसे अपमानित करने लगे।

केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम् ।

पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन ।

प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुमुनेः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

केचित्—उनमें से कुछ; त्रि-वेणुम्—त्रिदण्ड को; जगृहुः—छीन लिया; एके—कुछ; पात्रम्—उसके भिक्षापात्र को; कमण्डलुम्—जलपात्र को; पीठम्—आसन, पीढ़ा; च—तथा; एके—किसी ने; अक्ष-सूत्रम्—जपमाला; च—तथा; कन्थाम्—गुदड़ी; चीराणि—फटी, जीर्ण-शीर्ण; केचन—कुछेक ने; प्रदाय—वापस करके; च—तथा; पुनः—फिर से; तानि—वे; दर्शितानि—दिखने वाले; आददुः—छीन लिया; मुनेः—मुनि का।

इनमें से कुछ लोग तो उसका संन्यासी दण्ड छीन लेते और कुछ उस जलपात्र को, जिसे वह



भिक्षापात्र के रूप में काम में ला रहा था। कोई उसका मृगचर्म आसन, तो कोई उसकी जपमाला ले लेता और कोई उसकी फटी-पुरानी गुदड़ी चुरा लेता; वे इन वस्तुओं को उसे दिखा-दिखाकर वापस करने का बहाना करते किन्तु उन्हें पुनः छिपा देते।

अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे ।

मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः श्लीवन्त्यस्य च मूर्धनि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अन्नम्—भोजन; च—तथा; भैक्ष्य—भिक्षा माँग कर; सम्पन्नम्—प्राप्त; भुञ्जानस्य—भाग लेने वाले का; सरित्—नदी के; तटे—तट पर; मूत्रयन्ति—पेशाब करते हैं; च—तथा; पापिष्ठाः—अत्यन्त पापी व्यक्ति; श्लीवन्ति—थूकते हैं; अस्य—उसके; च—तथा; मूर्धनि—सिर पर।

जब वह भिक्षा द्वारा एकत्र किये गये भोजन को खाने के लिए नदी के तट पर बैठा, तो ऐसे पापी धूर्त आकर उस पर पेशाब कर देते और उसके सिर पर थूकने का दुस्साहस करते।

यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत् ।

तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः ।

बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद्बध्यतां बध्यतामिति ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यत-वाचम्—मौनव्रत धारण किये; वाचयन्ति—जबरन बोलवाते; ताडयन्ति—पीटते; न वक्ति—वह नहीं बोलता; चेत्—यदि; तर्जयन्ति—लाठी से मारते; अपरे—अन्य लोग; वाग्भिः—अपने शब्दों से; स्तेनः—चोर; अयम्—यह व्यक्ति; इति—इस प्रकार; वादिनः—कहते हुए; बध्नन्ति—उसे बाँध देते; रज्ज्वा—रस्सी से; तम्—उसको; केचित्—कुछ; बध्यताम् बध्यताम्—उसे बाँध लो, उसे बाँध लो; इति—ऐसा कह कर।

यद्यपि उसने मौनव्रत धारण कर रखा था, किन्तु वे उससे बोलवाने का प्रयास करते और यदि वह न बोलता तो उसे लाठियों से पीटते थे। अन्य लोग उसे यह कह कर प्रताड़ित करते कि यह आदमी चोर है। अन्य लोग उसे रस्सी से बाँध देते और चिल्लाते, “उसे बाँध दो! उसे बाँध दो!”

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः ।

क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत्स्वजनोज्झितः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

क्षिपन्ति—आलोचना करते; एके—कुछ लोग; अवजानन्तः—अपमानित करते हुए; एषः—इस; धर्म-ध्वजः—धार्मिक ढोंग करने वाले; शठः—ठगने; क्षीण-वित्तः—अपना धन खोकर; इमाम्—इस; वृत्तिम्—पेशे को; अग्रहीत्—ग्रहण किया है; स्व-जन—अपने परिवार द्वारा; उज्झितः—बाहर निकाला गया।

वे यह कह कर उसकी आलोचना और अपमान करते “यह व्यक्ति तो ढोंगी और ठग है। यह

व्यक्ति धर्म को इसलिए पेशा बनाये हुए है क्योंकि इसने अपनी सारी सम्पत्ति गँवा दी है और इसके परिवार वालों ने इसे बाहर निकाल दिया है।

अहो एष महासारो धृतिमान्गिरिराडिव ।  
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद्दृढनिश्चयः ॥ ३८ ॥  
इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च ।  
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; एषः—यह व्यक्ति; महा-सारः—अत्यन्त शक्तिशाली; धृतिमान्—धैर्यवान्; गिरि-राट्—हिमालय पर्वत; इव—सदृश; मौनेन—अपने मौनव्रत से; साधयति—प्रयास कर रहा है; अर्थम्—अपने लक्ष्य के लिए; बक-वत्—बगुले के समान; दृढ—स्थिर; निश्चयः—संकल्प; इति—इस प्रकार कहते हुए; एके—कुछ लोग; विहसन्ति—मजाक उड़ाते; एनम्—उसका; एके—कुछ लोग; दुर्वातयन्ति—अपानवायु निकालते; च—तथा; तम्—उसको; बबन्धुः—जंजीरों में बाँध दिया; निरुरुधुः—बन्दी बना रखा; यथा—जिस तरह; क्रीडनकम्—पालतू पशु; द्विजम्—उस ब्राह्मण को।

कुछ लोग यह कह कर उसका मजाक उड़ाते, “जरा देखो न इस अत्यन्त शक्तिशाली ऋषि को! यह हिमालय पर्वत की तरह धैर्यवान है। यह अपने मौनव्रत से महान् संकल्प करके अपना लक्ष्य पाने के लिए एक बगुले की भाँति प्रयत्नशील है।” अन्य लोग उसके ऊपर अपानवायु छोड़ते और कुछ लोग इस द्विज ब्राह्मण को जंजीरों में बाँध कर पालतू पशु की तरह बन्दी बनाकर रखते।

एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यत् ।  
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; सः—वह; भौतिकम्—अन्य जीवों के कारण; दुःखम्—कष्ट; दैविकम्—देवताओं के कारण; दैहिकम्—अपने शरीर के कारण; च—तथा; यत्—जो भी; भोक्तव्यम्—कष्ट पाने के लिए सुनिश्चित; आत्मनः—अपना; दिष्टम्—विधाता द्वारा नियत; प्राप्तम् प्राप्तम्—जो कुछ भी मिल जाता; अबुध्यत—वह समझ गया।

वह ब्राह्मण समझ गया कि उसका सारा कष्ट—अन्य जीवों से, प्रकृति की उच्च शक्तियों से तथा अपने ही शरीर से जन्य—दुर्निवार है क्योंकि यह विधाता द्वारा निश्चित हुआ है।

तात्पर्य : उस ब्राह्मण को अनेक निर्दय व्यक्ति सताते और उसका शरीर ज्वर, भूख, प्यास, थकान आदि से पीड़ित भी रहता। दैवी शक्तियाँ वे हैं, जो अत्यधिक गर्मी, सर्दी, हवा तथा वर्षा उत्पन्न करती हैं। ब्राह्मण की समझ में आ चुका था कि उसका कष्ट भौतिक शरीर से अपनी झूठी पहचान बनाने के कारण है, बाह्य घटना और उसके शरीर की अन्योन्य क्रिया से नहीं है। वह बाह्य स्थिति से तालमेल

बैठाने के प्रयास की बजाय, कृष्णभावनामृत से तालमेल बैठा रहा था और इस तरह नित्य आत्मा के रूप में अपनी असली पहचान को अनुभव करना चाह रहा था।

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः ।

पातयद्भिः स्व धर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

परिभूतः—अपमानित; इमाम्—यह; गाथाम्—गीत; अगायत—गाया; नर-अधमैः—निम्न जाति के लोगों द्वारा; पातयद्भिः—उसे पतित बनाने का प्रयत्न करने वाले; स्व-धर्म—अपने कर्तव्य में; स्थः—दृढ़ रहते हुए; धृतिम्—संकल्प; आस्थाय—स्थिर होकर; सात्त्विकीम्—सतोगुणी।

इन निम्न कोटि के पुरुषों द्वारा, जो उसे पतित करने का प्रयास कर रहे थे, अपमानित होने पर भी, वह अपने आध्यात्मिक कर्म में अडिग बना रहा। सतोगुण में अपना संकल्प स्थिर करके, वह निम्नलिखित गीत गाने लगा।

तात्पर्य : भगवद्गीता में सतोगुणी (सात्त्विक) संकल्प का वर्णन हुआ है (१८.३३)—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

“हे पृथापुत्र! जो धारणा अदम्य है, जिसे योगाभ्यास द्वारा अचल रह कर धारण किया जाता है और जो इस प्रकार मन, प्राण तथा इन्द्रियों के कार्यकलापों को वश में रखती है, वह धृति सात्त्विक है।”

जो नास्तिकजन भगवद्भक्तों से द्वेष रखते हैं, वे नराधम अर्थात् मनुष्यों में सबसे निम्न कहलाते हैं और वे निश्चित रूप से नरकगामी होते हैं। वे सभी उपायों से भगवान् की भक्ति में बाधा डालते हैं, कभी प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो कभी उपहास करके। किन्तु भक्तगण सहिष्णु बने रहते हैं और सात्त्विक संकल्प बनाये रखते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने श्री उपदेशामृत (१) में कहा है—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं

जिह्वावेगम् उदरोपस्थवेगम् ।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः

सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ॥

“जो गम्भीर व्यक्ति बोलने की आन्तरिक इच्छा, मन की माँगों, क्रोध के कार्यों तथा जीभ, पेट

और जननेन्द्रियों की माँगों को सह सकता है, वह विश्व-भर में शिष्य बनाने के लिए सुपात्र है।”

द्विज उवाच  
नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-  
र्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः ।  
मनः परं कारणमामनन्ति  
संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

द्विजः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; न—नहीं; अयम्—ये; जनः—लोग; मे—मेरे; सुख—सुख; दुःख—तथा दुख के; हेतुः—कारण; न—न तो; देवता—देवतागण; आत्मा—मेरा शरीर; ग्रह—अधीक्षक ग्रह; कर्म—मेरा विगत कर्म; कालाः—अथवा समय; मनः—मन; परम्—प्रत्युत एकमात्र; कारणं—कारण; आमनन्ति—अधिकारी विद्वानों द्वारा कहा जाता है; संसार—भौतिक जीवन का; चक्रम्—चक्र; परिवर्तयेत्—घुमाता है; यत्—जो।

ब्राह्मण ने कहा : न तो ये लोग मेरे सुख तथा दुख के कारण हैं, न ही देवता, मेरा शरीर, ग्रह, मेरे विगत कर्म या काल ही। प्रत्युत यह तो एकमात्र मन है, जो सुख तथा दुख का कारण है जो भौतिक जीवन को निरन्तर घुमाता रहता है।

मनो गुणान्वै सृजते बलीय-  
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।  
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि  
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; गुणान्—प्रकृति के गुणों के कार्य; वै—निस्सन्देह; सृजते—पकट करता है; बलीयः—अत्यन्त बलवान्; ततः—उन गुणों से; च—तथा; कर्माणि—भौतिक कार्यकलाप; विलक्षणानि—विभिन्न प्रकारों के; शुक्लानि—श्वेत ( सतोगुणी ); कृष्णानि—काला ( तमोगुणी ); अथ—तथा; लोहितानि—लाल ( रजोगुणी ); तेभ्यः—उन कार्यों से; स-वर्णाः—वही वही रंग वाले; सृतयः—उत्पन्न दशाएँ; भवन्ति—उठ खड़ी होती हैं।

शक्तिशाली मन भौतिक गुणों को कार्यशील बनाता है, जिससे सतो, तमो तथा रजोगुण से सम्बद्ध विभिन्न प्रकार के भौतिक कार्यकलाप विकसित होते हैं। इनमें से प्रत्येक गुण वाले कार्यों से संगत जीवन दशाएँ ( गतियाँ ) उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : सतोगुण में मनुष्य अपने को सन्त या चतुर मानता है, रजोगुण में भौतिक सफलता के लिए संघर्षशील रहता है और तमोगुण में वह क्रूर, आलसी तथा पापी बन जाता है। भौतिक गुणों के संमेल से ही मनुष्य अपने को देवता, राजा, धनी, पंडित आदि मानता है। ये धारणाएँ भौतिक उपाधियाँ हैं, जो प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होती हैं और ये क्षणिक इन्द्रियतृप्ति के भोगार्थ शक्तिशाली मन की

प्रवृत्ति के अनुसार अपने को नियोजित करती हैं। इस श्लोक में *बलीयस्* शब्द सूचित करता है कि भौतिक मन अच्छी सलाह नहीं सुनता। यहाँ तक कि हमें यह बताये जाने पर भी कि धन कमाने के लिए हम अनेक पाप तथा अपराध करते हैं, हम यह सोचते हैं कि किसी भी कीमत पर धन तो कमाना ही है क्योंकि धन के बिना न तो कोई धार्मिक उत्सव सम्पन्न किया जा सकता है न ही सुन्दर स्त्रियों, महलों तथा वाहनों से इन्द्रियों की तृप्ति की जासकती है। जैसे ही धन मिल जाता है, मनुष्य को और अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है किन्तु इस सम्बन्ध में जिद्दी मन कभी भी नेक सलाह पर ध्यान नहीं देता। अतः मनुष्य को मानसिक कल्पना त्याग कर अपने मन को कृष्णभावनामृत में नियंत्रित करना चाहिए जैसाकि अवन्ती के ब्राह्मण के दृष्टान्त से प्रकट है।

अनीह आत्मा मनसा समीहता  
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।  
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्  
जुषन्निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अनीहः—निष्क्रिय; आत्मा—परमात्मा; मनसा—मन के साथ साथ; समीहता—संघर्षशील; हिरण्-मयः—दिव्य प्रकाश प्रकट करते हुए; मत्-सखः—मेरा मित्र; उद्विचष्टे—ऊपर से नीचे की ओर देखता है; मनः—मन; स्व-लिङ्गम्—जो भौतिक जगत के प्रतिबिम्ब को अपने ( आत्मा ) ऊपर प्रक्षेपित करता है; परिगृह्य—स्वीकार करके; कामान्—इन्द्रिय-विषयों को; जुषन्—लगाकर; निबद्धः—बँध जाता है; गुण-सङ्गतः—गुणों की संगति के कारण; असौ—वह सूक्ष्म आत्मा।

परमात्मा यद्यपि भौतिक शरीर के भीतर संघर्षशील मन के साथ उपस्थित रहता है, किन्तु वह प्रयास नहीं करता ( निष्क्रिय रहता है ) क्योंकि वह पहले से दिव्य प्रकाश से समन्वित होता है। वह मेरे मित्र की भाँति कार्य करते हुए अपने दिव्य पद से केवल साक्षी बनता है। दूसरी ओर अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा रूप में इस मन को अपना चुका हूँ जो भौतिक जगत के प्रतिबिम्ब को परावर्तित करने वाला दर्पण है। इस तरह मैं इन्द्रिय-विषयों का भोग करने में लगा हूँ और प्रकृति के गुणों के सम्पर्क के कारण बँधा हुआ हूँ।

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च  
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि ।  
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः  
परो हि योगो मनसः समाधिः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

दानम्—दान देना; स्व-धर्मः—अपने नियत कर्तव्य करते रहना; नियमः—दैनिक जीवन के नियम; यमः—आध्यात्मिक अभ्यास के प्रमुख नियम; च—तथा; श्रुतम्—शास्त्रों को सुनना; च—तथा; कर्माणि—पुण्यकर्म; च—तथा; सत्—शुद्ध; व्रतानि—व्रत; सर्वे—सभी; मनः-निग्रहः—मन को वश में करना; लक्षण—से युक्त; अन्ताः—उनका लक्ष्य; परः—परम; हि—निस्सन्देह; योगः—दिव्य ज्ञान; मनसः—मन का; समाधिः—समाधि में ब्रह्म का ध्यान।

दान, धर्म, यम तथा नियम, शास्त्रों का श्रवण, पुण्यकर्म तथा शुद्ध बनाने वाले व्रत—इन सबका अन्तिम लक्ष्य मन का दमन है। निस्सन्देह, ब्रह्म में मन की एकाग्रता ही सर्वोच्च योग है।

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं

दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम् ।

असंयतं यस्य मनो विनश्यद्

दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

समाहितम्—पूर्णतया स्थिर; यस्य—जिसका; मनः—मन; प्रशान्तम्—शान्त; दान-आदिभिः—दान तथा अन्य विधियों से; किम्—क्या; वद—कृपया कहें; तस्य—उन विधियों का; कृत्यम्—उपयोग; असंयतम्—अनियंत्रित; यस्य—जिसका; मनः—मन; विनश्यत्—विलीन करते हुए; दान-आदिभिः—दान इत्यादि विधियों से; चेत्—यदि; अपरम्—आगे; किम्—क्या लाभ; एभिः—इनका।

यदि किसी का मन पूर्णतया स्थिर तथा शान्त हो, तो आप मुझे यह बतलायें कि मनुष्य को कर्मकांडी दान तथा अन्य पुण्यकर्म करने की क्या आवश्यकता है? और यदि किसी का मन असंयत रहता है, अज्ञान में डूबा रहता है, तो फिर उसके लिए इन कार्यों से क्या लाभ?

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन्सम देवा

मनश्च नान्यस्य वशं समेति ।

भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्

युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन के; वशे—वश में; अन्ये—अन्य; हि—निस्सन्देह; अभवन्—हो गये; स्म—भूतकाल में; देवाः—इन्द्रियाँ (अपने अधिष्ठातृ देवों द्वारा प्रदर्शित); मनः—मन; च—तथा; न—कभी नहीं; अन्यस्य—दूसरे के; वशम्—वश में; समेति—आता है; भीष्मः—भयावह; हि—निस्सन्देह; देवः—देवता जैसी शक्ति; सहसः—सबसे बलवान की अपेक्षा; सहीयान्—बलवान; युञ्ज्यात्—स्थिर कर सकता है; वशे—वश में; तम्—उस मन को; सः—ऐसा व्यक्ति; हि—निस्सन्देह; देव-देवः—समस्त इन्द्रियों का स्वामी।

सारी इन्द्रियाँ अनन्त काल से मन के वश में रही हैं और मन कभी भी किसी अन्य के प्रभाव में नहीं आता। वह बलवानों से भी बलवान है और उसकी देवतुल्य शक्ति भयावह है। इसलिए जो अपने मन को वश में कर सकता है, वह सभी इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है।

तद्दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-

मरुन्तुदं तत्र विजित्य केचित् ।

कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-

मित्राण्युदासीनरिपून्विमूढाः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; दुर्जयम्—न जीता जाने वाला; शत्रुम्—शत्रु को; असह्य—असहनीय; वेगम्—जिसका वेग; अरुम्—तुदम्—हृदय को पीड़ा पहुँचाने में सक्षम; तत्—इसलिए; न विजित्य—न जीत पाकर; केचित्—कुछ लोग; कुर्वन्ति—करते हैं; असत्—व्यर्थ; विग्रहम्—कलह; अत्र—इस जगत में; मर्त्यैः—मर्त्य जीवों से; मित्राणि—मित्र; उदासीन—अन्यमनस्क लोग; रिपून्—तथा प्रतिद्वन्द्वी; विमूढाः—पूर्णतया विमोहित ।

अनेक लोग इस दुर्जय शत्रुरूपी मन को, जिसके वेग असह्य हैं और जो हृदय को सताता है जीत न पाने पर, पूर्णतया विमोहित हो जाते हैं और अन्यो से व्यर्थ ही कलह ठान लेते हैं। इस तरह वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्य लोग या तो उनके मित्र हैं अथवा उनके शत्रु हैं या फिर उनसे उदासीन रहने वाले हैं।

तात्पर्य : अपने को शरीर मान लेना और बच्चों तथा बच्चों के बच्चों रूपी शारीरिक अंशों को नित्य सम्पत्ति स्वीकार करते हुए मनुष्य भूल जाता है कि प्रत्येक जीव गुणात्मक रूप से ईश्वर जैसा है। एक जीव तथा दूसरे जीव में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि वे सारे ही परमेश्वर के अंश हैं। मन जब मिथ्या अहंकार में लीन होता है, तो भौतिक शरीर उत्पन्न होता है और शरीर से अपनी पहचान करने से बद्ध आत्मा मिथ्या अहंकार तथा अज्ञान से अभिभूत हो जाता है जैसाकि यहाँ पर बतलाया गया है।

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा

ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः ।

एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण

दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

देहम्—भौतिक शरीर को; मनः—मात्रम्—मन से ही उत्पन्न; इमम्—इस; गृहीत्वा—ग्रहण करके; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; अन्ध—अन्धी; धियः—बुद्धि वाले; मनुष्याः—मनुष्य; एषः—यह; अहम्—मैं हूँ; अन्यः—दूसरा कोई; अयम्—यह है; इति—इस प्रकार; भ्रमेण—मोह के द्वारा; दुरन्त-पारे—दुर्लभ; तमसि—अंधकार में; भ्रमन्ति—भटकते रहते हैं।

जो लोग अपनी पहचान इस शरीर से, जो कि भौतिक मन की उपज है, करते हैं उनकी बुद्धि मारी जाती है और वे “मैं” तथा “मेरा” के रूप में सोचते हैं। अपने इस भ्रम के कारण कि, “यह मैं हूँ किन्तु वह अन्य कोई है” वे लोग अनन्त अंधकार में भटकते रहते हैं।

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्  
 किमात्मनश्चात्र हि भौमयोस्तत् ।  
 जिह्वां क्वचित्सन्दशति स्वदद्धि-  
 स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

जनः—ये लोग; तु—लेकिन; हेतुः—कारण; सुख-दुःखयोः—मेरे सुख तथा दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—अपने लिए; च—तथा; अत्र—इस धारणा में; हि—निस्सन्देह; भौमयोः—भौतिक शरीर से सम्बन्धित; तत्—वह ( कर्ता तथा भोक्ता का पद ); जिह्वाम्—जीभ को; क्वचित्—कभी; सन्दशति—काट लेता है; स्व—अपने; दद्धिः—दाँतों से; तत्—उस; वेदनायाम्—पीड़ा का; कतमाय—किसके साथ; कुप्येत्—कोई क्रोध करे।

यदि आप यह कहते हैं कि ये लोग ही मेरे सुख तथा दुख के कारण हैं, तो फिर ऐसी धारणा होने पर आत्मा के लिए स्थान कहाँ रहता है? यह सुख तथा दुख आत्मा का नहीं होता अपितु भौतिक शरीरों की अन्योन्य क्रियाओं का है। यदि कोई व्यक्ति अपने ही दाँतों से अपनी जीभ काट लेता है, तो अपनी पीड़ा के लिए वह किस पर क्रोध करे?

तात्पर्य : यद्यपि आत्मा शारीरिक सुख तथा दुख का अनुभव करता है किन्तु मनुष्य को यह समझते हुए ऐसी द्वैतता को सह लेना चाहिए कि यह तो उसके भौतिक मन की सृष्टि है। यदि कोई अचानक अपनी ही जीभ या होंठ काट लेता है, तो वह क्रोध करके अपने दाँत तो निकाल नहीं सकता। इसी तरह सारे जीव ईश्वर के भिन्नांश है और इस तरह एक दूसरे से अभिन्न हैं। वे सभी आध्यात्मिक समभाव से भगवान् की सेवा करने के लिए हैं। यदि ये जीव अपने स्वामी की सेवा करना छोड़ दें और उसकी बजाय परस्पर लड़ने लगे तो उन्हें प्रकृति के नियमों द्वारा पीड़ित किया जायेगा। यदि बद्ध आत्माएँ भौतिक शरीर पर आधारित कृत्रिम स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करती हैं और ईश्वर से कोई सरोकार नहीं रखतीं, तो काल ऐसे सम्बन्धों को नष्ट कर देता है और उन्हें आगे भी कष्ट मिलता है। किन्तु यदि प्रत्येक जीव अपने को एक ही परिवार का सदस्य मानता है, जिन सबका सम्बन्ध परमेश्वर से हो, तो उनमें पारस्परिक मैत्री उत्पन्न होगी। इस तरह मनुष्य को क्रोध नहीं करना चाहिए क्योंकि वह अपने लिए तथा अन्यो के लिए भी घातक होगा। यद्यपि उस ब्राह्मण को कुछ लोग भीख दे रहे थे और कुछ लोग तंग कर रहे थे और पीट भी रहे थे, किन्तु उसने इन लोगों को अपने सुख तथा दुख का परम कारण नहीं माना क्योंकि वह शरीर तथा मन से परे आत्म-साक्षात्कार के पद को प्राप्त था।



दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु  
 किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ।  
 यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित्  
 क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

दुःखस्य—दुख का; हेतुः—कारण; यदि—यदि; देवताः—देवतागण ( शरीर के भीतर विविध इन्द्रियों के अधिष्ठाता ); तु—लेकिन; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा के लिए; तत्र—उस सम्बन्ध में; विकारयोः—विकारों ( इन्द्रियों तथा उनके अधिष्ठाता देवों ) से सम्बन्धित; तत्—वह ( कर्म तथा उसका फल ); यत्—जब; अङ्गम्—अंग; अङ्गेन—दूसरे अंग द्वारा; निहन्यते—चोट पहुँचाया जाता है; क्वचित्—कभी; क्रुध्येत—क्रुद्ध होना चाहिए; कस्मै—किस पर; पुरुषः—जीव; स्व-देहे—अपने शरीर के भीतर।

यदि आप यह कहें कि शारीरिक इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता दुख के देने वाले हैं, तो भी ऐसा दुख आत्मा पर कैसे लागू हो सकता है? यह कर्म करना तथा उसके द्वारा प्रभावित होना परिवर्तनशील इन्द्रियों तथा उनके अधिष्ठाता देवों की अन्योन्य क्रिया मात्र है। यदि शरीर का कोई अंग दूसरे अंग पर आक्रमण करे तो उस शरीर का धारक व्यक्ति किस पर क्रोध करे?

तात्पर्य : वह ब्राह्मण आत्म-साक्षात्कार की उस स्थिति की विस्तृत व्याख्या कर रहा है, जिसमें मनुष्य अपने आप को शरीर तथा मन और उन पर नियंत्रण रखने वाले देवताओं से सर्वथा पृथक् मानता है। शारीरिक सुख का अनुशीलन करने से हमें शारीरिक कष्ट भी सहना पड़ता है। किन्तु मूर्ख बद्ध आत्माएँ दुख को हटाकर सुख भोगने का प्रयास करती हैं किन्तु भौतिक सुख तथा दुख एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। कोई व्यक्ति अपने को शरीर माने बिना शारीरिक सुख का आस्वादन नहीं कर सकता। किन्तु ज्योंही ऐसी पहचान बनती है, उसी शरीर के भीतर उपस्थित असंख्य दुखों से वह सताया जाने लगता है। शारीरिक सुख-दुख देने वाले तो देवता हैं, जिन्हें हम कभी भी अपने वश में नहीं कर सकते। इस तरह मनुष्य विधाता की इच्छा के अधीन रहता है। किन्तु यदि वह आनन्दकंद भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करता है, तो वह आध्यात्मिक पद तक पहुँच सकता है जहाँ पर मुक्त आत्मा को दिव्य आनन्द प्राप्त होता है, जिसमें चिन्ता या दुख बाधक नहीं बनते।

आत्मा यदि स्यात्सुखदुःखहेतुः  
 किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ।  
 न ह्यात्मनोऽन्यद्यदि तन्मृषा स्यात्  
 क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा; यदि—यदि; स्यात्—हो; सुख-दुःख—सुख तथा दुख का; हेतुः—कारण; किम्—क्या; अन्यतः—अन्य; तत्र—उस मत में; निज—अपना; स्वभावः—स्वभाव, प्रकृति; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; आत्मनः—आत्मा की अपेक्षा; अन्यत्—अलग से कोई वस्तु; यदि—यदि; तत्—वह; मृषा—झूठी; स्यात्—होगी; क्रुध्येत—कोई क्रोध करे; कस्मात्—किस पर; न—नहीं है; सुखम्—सुख; न—न तो; दुःखम्—दुख।

यदि आत्मा ही सुख तथा दुख का कारण होता, तो हम अन्यो को दोष न दे पाते, क्योंकि तब सुख तथा दुख आत्मा के स्वभाव होते। इस मत के अनुसार आत्मा से भिन्न अन्य कुछ विद्यमान नहीं होता और यदि हमें आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अनुभव करना पड़ता तो वह मोह होता। इसलिए कोई अपने ऊपर या अन्यो पर क्रोध क्यों करे क्योंकि इस मत के अनुसार सुख तथा दुख का वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है।

तात्पर्य : चूँकि मृत शरीर को आनन्द या पीड़ा की अनुभूति नहीं होती अतः हमारा सुख तथा दुख हमारी ही चेतना के कारण होते हैं क्योंकि यह आत्मा का स्वभाव है। किन्तु भौतिक सुख का भोग और कष्ट का भोग आत्मा के आदि कार्य नहीं हैं। ये तो मिथ्या अहंकार पर आधारित स्नेह तथा शत्रुता से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियतृप्ति में लिप्त होने से हमारी चेतना भौतिक शरीर की ओर खिंच जाती है जहाँ इसे अपरिहार्य शारीरिक कष्टों तथा समस्याओं के आघात सहने पड़ते हैं।

आध्यात्मिक स्तर पर न तो भौतिक सुख है, न भौतिक दुख क्योंकि वहाँ पर सजीव चेतना, बिना किसी निजी इच्छा के, भगवान् की भक्ति में लगी रहती है। मिथ्या शारीरिक पहचान से अलग, सुख की यही वास्तविक स्थिति है। अपनी मूर्खता के लिए अन्यो पर क्रोध करने की बजाय मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार करके जीवन की समस्याएँ हल करनी चाहिए।

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्

किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै ।

ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां

क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

ग्रहाः—अधिष्ठाता ग्रह; निमित्तम्—कारण; सुख-दुःखयोः—सुख या दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा के लिए; अजस्य—अजन्मा; जनस्य—जिससे जन्म हुआ है उसका; ते—वे ग्रह; वै—निस्सन्देह; ग्रहैः—अन्य ग्रहों के द्वारा; ग्रहस्य—ग्रह का; एव—एकमात्र; वदन्ति—(दक्ष ज्योतिषी) कहते हैं; पीडाम्—कष्ट; क्रुध्येत—क्रोध करे; कस्मै—किस पर; पुरुषः—जीव; ततः—उस शरीर से; अन्यः—पृथक्।

और यदि हम इस संकल्पना की परीक्षा करें कि ग्रह ही सुख तथा दुख के तुरन्त कारणरूप हैं, तो भी नित्य आत्मा से उसका सम्बन्ध कहाँ है? आखिर, ग्रहों का प्रभाव केवल उन्हीं वस्तुओं

पर पड़ता है जिनका जन्म हो चुका है। इसके अतिरिक्त कुशल ज्योतिषियों ने बतलाया है कि किस तरह विभिन्न ग्रह एक-दूसरे को केवल पीड़ा पहुँचाते हैं। इसलिए, जीव जो कि इन ग्रहों तथा शरीर से पृथक् है, वह अपना क्रोध किस पर प्रकट करे?

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्

किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।

देहस्त्वचित्पुरुषोऽयं सुपर्णः

क्रुध्येत कस्मै न हि कर्म मूलम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

कर्म—अपने सकाम कर्म; अस्तु—मान लिया कि; हेतुः—कारण; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा के लिए; तत्—वह कर्म; हि—निश्चय ही; जड-अजडत्वे—भौतिक तथा अभौतिक दोनों में; देहः—शरीर; तु—दूसरी ओर; अचित्—निर्जीव; पुरुषः—पुरुष; अयम्—यह; सु-पर्णः—सजीव चेतना से युक्त; क्रुध्येत—क्रोध प्रकट करे; कस्मै—किस पर; न—नहीं हैं; हि—निश्चय ही; कर्म—सकाम कर्म; मूलम्—मूल कारण।

यदि हम यह मान लें कि सकाम कर्म सुख तथा दुख का कारण है, तो भी हम आत्मा की बात नहीं करते। भौतिक कर्म का भाव तब उदय होता है जब कोई चेतनकर्ता और भौतिक शरीर होता है, जो ऐसे कर्म के फल के रूप में सुख तथा दुख के विकारों को प्राप्त होता है। चूँकि शरीर में जीवन नहीं होता, इसलिए यह न तो सुख-दुख का असली प्रापक हो सकता है न ही आत्मा जो अन्ततः पूर्णतया आध्यात्मिक है और शरीर से पृथक् रहता है। चूँकि कर्म का न तो शरीर पर, न ही आत्मा पर कोई परम आधार है, तो फिर कोई किस पर क्रोध करे?

तात्पर्य : यह भौतिक शरीर ईंट, पत्थर तथा दूसरी वस्तुओं की तरह पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु से बना हुआ है। हमारी चेतना, शरीर में झूठे ही लीन होने से, सुख-दुख का अनुभव करती है और जब हम गलती से अपने को भौतिक जगत का भोक्ता मान बैठते हैं, तो सकाम कर्म सम्पन्न होता है। इस तरह मिथ्या अहंकार हमारे मनो के भीतर आत्मा तथा शरीर का, मोहमय संमिश्रण है, जबकि आत्मा तथा शरीर वास्तव में अलग अलग हैं। चूँकि कर्म मोहमयी चेतना पर आधारित होता है अतएव ये कर्म भी मोहमय होते हैं और उनका शरीर या आत्मा में कोई आधार नहीं होता। जब बद्धजीव अपने को मिथ्या ही शरीर और भौतिक जगत का भोक्ता मान बैठता है, तो वह स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध करके आनन्द खोजने का प्रयास करता है। ऐसा पापमय कार्य अपने को शरीर मानने की मिथ्या कल्पना पर और फलस्वरूप स्त्रियों को तथा जगत का भोक्ता मान लेने पर आधारित है। चूँकि यह शरीर नहीं है

इसलिए उसके स्त्री-भोग के कार्य का अस्तित्व ही नहीं होता। यह तो दो यंत्रों अर्थात् दो शरीरों की और स्त्री तथा पुरुष की मोहमयी चेतना की पारस्परिक क्रिया है। अवैध यौन की अनुभूति शरीर के भीतर होती है और मिथ्या अहंकार इसे अपने अनुभव के रूप में आत्मसात् करता है। इस तरह कर्म के सुखमय या दुखमय फल अन्ततोगत्वा मिथ्या अहंकार पर प्रभाव दिखाते हैं, शरीर पर नहीं, जो जड़ पदार्थ से बना है या उस आत्मा पर नहीं जिसका पदार्थ से कोई नाता नहीं है। मिथ्या अहंकार तो मन की मोहमयी कल्पना है और यही मिथ्या अहंकार सुख तथा दुख पाता है। आत्मा अन्यो पर क्रुद्ध हो ही नहीं सकता क्योंकि वह न तो सुख भोग रहा है, न कष्ट, प्रत्युत मिथ्या अहंकार ही यह सब करता है।

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्  
किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ ।  
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत्स्यात्  
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

कालः—समय; तु—लेकिन; हेतुः—कारण; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख का; चेत्—यदि; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा का; तत्र—उस भाव में; तत्-आत्मकः—काल पर आधारित; असौ—आत्मा; न—नहीं; अग्नेः—अग्नि से; हि—निस्सन्देह; तापः—जलन; न—नहीं; हिमस्य—बर्फ का; तत्—वह; स्यात्—बनता है; क्रुध्येत—क्रोध करे; कस्मै—किस पर; न—नहीं है; परस्य—दिव्य आत्मा के लिए; द्वन्द्वम्—द्वैत भाव।

यदि हम काल को सुख तथा दुख का कारण मान लें, तो भी यह अनुभव आत्मा पर लागू नहीं हो सकता क्योंकि काल भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति है और जीव भी उसी शक्ति के अंश हैं, जो काल के माध्यम से प्रकट होती है। यह निश्चित है कि आग अपनी लौ या चिनगियों को नहीं जलाती, न ही शीत अपने ही रूप ओलों को हानि पहुँचाती है। वस्तुतः आत्मा दिव्य है और भौतिक सुख-दुख के अनुभव से परे है। इसलिए कोई किस पर क्रोध प्रकट करे?

तात्पर्य : भौतिक शरीर जड़ पदार्थ है और वह सुख, दुख या अन्य वस्तु का अनुभव नहीं करता। चूँकि आत्मा पूर्णतया दिव्य है, अतएव उसे उस दिव्य प्रभु पर अपनी चेतना स्थिर करनी चाहिए जो भौतिक सुख-दुख से परे है। जब दिव्य चेतना झूठे ही अपनी पहचान जड़ पदार्थ से करती है, तभी जीव यह कल्पना करता है कि वह भौतिक जगत में सुख तथा दुख भोग रहा है। पदार्थ के साथ चेतना

की यह मोहमयी पहचान मिथ्या अहंकार कहलाती है और संसार का कारण है।

न केनचित्क्वापि कथञ्चनास्य

द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य ।

यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-

देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; केनचित्—किसी के द्वारा; क्व अपि—कहीं भी; कथञ्चन—किसी तरह से; अस्य—उस ( आत्मा ) का; द्वन्द्व—द्वैत ( सुख तथा दुख ) का; उपरागः—प्रभाव; परतः परस्य—भौतिक प्रकृति से परे रहने वाला; यथा—जिस तरह; अहमः—मिथ्या अहंकार के लिए; संसृति—जगत के प्रति; रूपिणः—रूप देने वाले; स्यात्—उदय होता है; एवम्—इस प्रकार; प्रबुद्धः—जिसकी बुद्धि जागृत हो चुकी हो; न बिभेति—डरता नहीं; भूतैः—भौतिक सृष्टि के आधार पर।

मिथ्या अहंकार मायामय जगत को स्वरूप प्रदान करता है और इस तरह वह भौतिक सुख तथा दुख का अनुभव करता है। किन्तु आत्मा भौतिक प्रकृति से परे है। वह किसी भी स्थान, किसी भी दशा में या किसी भी व्यक्ति के माध्यम से भौतिक सुख तथा दुख द्वारा प्रभावित नहीं होता। जो व्यक्ति इसे समझ लेता है उसे भौतिक सृष्टि से डरने की कोई बात नहीं।

तात्पर्य : वह ब्राह्मण जीव के सुख तथा दुख की छः विशिष्ट व्याख्याओं का खंडन कर चुका था और अब वह अन्य किसी भी दी जाने वाली व्याख्या का खंडन करता है। मिथ्या अहंकार के आधार पर वस्तुतः शारीरिक आवरण आत्मा को ढक लेता है और इस तरह मनुष्य झूठे ही उसका सुख तथा दुख भोगता है, जिसका उससे कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। जो व्यक्ति भगवान् द्वारा उद्धव से कहे गये ब्राह्मण के इस दिव्य उपदेश को समझ लेता है, वह इस जगत के भीतर भय की भीषण चिन्ता को फिर से कभी नहीं भोगेगा।

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-

मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः ।

अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं

तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

एताम्—यह; सः—ऐसा; आस्थाय—पूरी तरह स्थिर होकर; पर-आत्म-निष्ठाम्—परम पुरुष कृष्ण की भक्ति में; अध्यासिताम्—पूजा किया; पूर्व-तमैः—पिछले; महा-ऋषिभिः—आचार्यों द्वारा; अहम्—मैं; तरिष्यामि—पार करजाऊँगा; दुरन्त-पारम्—दुर्लभ; तमः—अविद्या का सागर; मुकुन्द-अङ्घ्रि—मुकुन्द के चरणकमलों की; निषेवया—सेवा द्वारा; एव—निश्चय ही।

मैं कृष्ण के चरणकमलों की सेवा में दृढ़ रह कर अविद्या के दुर्लभ सागर को पार कर

जाऊंगा। इसकी पुष्टि पिछले आचार्यों द्वारा की गई है, जो परमात्मा की भक्ति में स्थिर थे।

**तात्पर्य :** कृष्णदास कविराज ने इस श्लोक को *चैतन्य-चरितामृत* (मध्यलीला ३.६) में उद्धृत किया है। श्रील प्रभुपाद की टीका है, “श्रीमद्भागवत के इस श्लोक (११.२३.५७) की टीका करते हुए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि भक्ति करने में जिन ६४ बातों की आवश्यकता पड़ती है उनमें संन्यास के प्रतीकात्मक चिह्न धारण करने का वैधानिक सिद्धान्त है। यदि कोई संन्यास ग्रहण करता है, तो उसका मुख्य कार्य अपने जीवन को पूर्णतया मुकुन्द की सेवा में लगाना है। यदि वह अपने तन तथा मन को पूर्णतया भगवान् की सेवा में नहीं लगाता, तो वह वास्तविक संन्यासी नहीं है। इसमें केवल वस्त्र ही नहीं बदलना होता। *भगवद्गीता* में भी (६.१) कहा गया है *अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः/स संन्यासी च योगी च*—जो कृष्ण की तुष्टि के लिए भक्तिपूर्वक कर्म करता है, वही संन्यासी है। वस्त्र संन्यास नहीं हैं अपितु कृष्ण के प्रति उसकी मनोवृत्ति ही संन्यास है।

*परात्म-निष्ठा* शब्द का अर्थ है कृष्ण-भक्त होना। *परात्मा* या परम पुरुष तो कृष्ण हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः* जो लोग कृष्ण के चरणकमलों की सेवा में पूर्णतया समर्पित होते हैं, वे ही वास्तव में संन्यासी हैं। भक्त औपचारिकता के लिए अपने पूर्व आचार्यों की देखादेखी ही संन्यास-वस्त्र धारण करता है। वह त्रिदण्ड भी ग्रहण करता है। बाद में विष्णु स्वामी ने यह माना है कि त्रिदण्ड का वेश धारण करना *परात्म निष्ठा* है। इसलिए निष्ठावान भक्त एक अन्य दण्ड, जीवदण्ड, को भी त्रिदण्ड के साथ मिला लेते हैं। वैष्णव संन्यासी त्रिदण्ड संन्यासी कहलाता है। मायावादी संन्यासी केवल एक दण्ड धारण करता है; वह त्रिदण्ड का अभिप्राय नहीं समझता। आगे चल कर शिव स्वामी की जाति वाले अनेक पुरुषों ने भगवान् की *आत्म निष्ठा* (भक्ति) छोड़ दी और शंकराचार्य के मार्ग का अनुसरण किया। शिव स्वामी सम्प्रदाय वाले १०८ नाम छोड़ कर शंकराचार्य के मार्ग का अनुसरण करते हैं और संन्यास के दस नाम ग्रहण करते हैं। यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु ने उस समय प्रचलित संन्यास (एकदण्ड) को स्वीकार किया था, किन्तु तिस पर भी वे अवन्तीपुर के ब्राह्मण द्वारा स्वीकार किये गये त्रिदण्ड संन्यास के विषय में *श्रीमद्भागवत* का एक श्लोक सुनाया करते थे। परोक्ष रूप से उन्होंने यह घोषित किया था कि एकदण्ड के भीतर चार दण्ड उपस्थित हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु को परात्म निष्ठा के बिना एकदण्ड संन्यास स्वीकार न था। साथ ही, विधि-विधानों के अनुसार त्रिदण्ड में जीवदण्ड को भी

सम्मिलित कर लेना चाहिए। एकसाथ बँधे हुए ये चारों दण्ड भगवान् की शुद्ध भक्ति के प्रतीक हैं। चूँकि मायावादी एकदण्डी संन्यासी कृष्ण की भक्ति नहीं करते, अतएव वे ब्रह्मतेज में लीन होने का प्रयास करते हैं, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत के बीच की सीमान्त स्थिति है। वे इस निर्विशेष स्थिति को मोक्ष मानते हैं। मायावादी संन्यासी यह नहीं जानते कि श्री चैतन्य महाप्रभु त्रिदण्डी थे; वे उन्हें एकदण्डी संन्यासी मानते हैं। यह उनके *विवर्त*—मोह—का फल है। *श्रीमद्भागवत* में एकदण्डी संन्यासी जैसी कोई वस्तु नहीं मिलती। हाँ, त्रिदण्डी संन्यासी को संन्यास आश्रम का प्रतीक मान लिया जाता है। इस श्लोक का संदर्भ देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु श्रीमद्भागवत द्वारा संस्तुत संन्यास को मानते थे। मायावादी संन्यासी तो भगवान् की बहिरंगा शक्ति पर विमुग्ध रहते हैं। भला वे श्री चैतन्य महाप्रभु के मन को कैसे समझ सकते हैं।

आज भी श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी उनके चरणचिह्नों पर चल कर संन्यास स्वीकार करते हैं और जनेऊ तथा शिखा धारण करते हैं। मायावादी मत के एकदण्डी संन्यासी जनेऊ पहनना छोड़ देते हैं और शिखा नहीं रखते। इसलिए वे त्रिदण्ड संन्यास का तात्पर्य नहीं समझ सकते; फलस्वरूप वे मुकुन्द की सेवा में अपना जीवन समर्पित करने में रुचि नहीं दिखाते। वे ब्रह्म में लीन होने के बारे में ही सोचते हैं क्योंकि वे इस जगत से ऊबे रहते हैं। वे आचार्य जो *दैव वर्णाश्रम* (भगवद्गीता में उल्लिखित *चातुर्वर्ण्य*) के पक्षचर हैं, वे *असुर वर्णाश्रम* की परिकल्पना नहीं मानते जिसमें वर्ण को जन्म से माना जाता है।

“श्री चैतन्य महाप्रभु के सबसे घनिष्ठ भक्त गदाधर पंडित ने त्रिदण्ड संन्यास स्वीकार किया था और माधव उपाध्याय को अपने त्रिदण्डी संन्यासी के शिष्य-रूप में स्वीकार किया था। कहा जाता है कि इन्हीं मध्वाचार्य से पश्चिमी भारत में वल्लभाचार्य सम्प्रदाय प्रारम्भ हुआ। श्रील गोपाल भट्ट वसु ने, जो गौड़ीय सम्प्रदाय में *स्मृत्याचार्य* कहलाते हैं, बाद में त्रिदण्डिपाद प्रबोधानन्द सरस्वती से त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण किया। यद्यपि गौड़ीय वैष्णव वाङ्मय में त्रिदण्ड संन्यास का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु श्रीरूप गोस्वामी कृत *उपदेशामृत* का प्रथम श्लोक इस पक्ष का समर्थन करता है कि मनुष्य को छह वेगों को वश में करते हुए त्रिदण्ड संन्यास स्वीकार करना चाहिए।

*वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं*

जिह्वावेगं उदरोपस्थवेगम् ।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः

सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ॥

“जो व्यक्ति वाणी, मन, क्रोध, उदर, जीभ तथा जननेन्द्रिय के वेगों को वश में रख सकता है, वह गोस्वामी कहलाता है और पूरे विश्व में शिष्य बना सकता है।” श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों ने कभी भी मायावादी संन्यास ग्रहण नहीं किया और उन्हें इसके लिए दोष नहीं देना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु श्रीधर स्वामी को मानते थे, जो त्रिदण्डी संन्यासी थे किन्तु मायावादी संन्यासी श्रीधर स्वामी को न समझ पाकर कभी कभी सोचते हैं कि श्रीधर स्वामी मायावादी एकदण्ड संन्यास समुदाय के थे। वस्तुतः, बात ऐसी न थी।”

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणे गतक्लमः

प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम् ।

निराकृतोऽसद्विरपि स्वधर्मा-

दकम्पितोऽमूं मुनिराह गाथाम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच— भगवान् ने कहा; निर्विद्य— विरक्त होकर; नष्ट-द्रविणे— सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर; गत-क्लमः— खिन्नता से मुक्त; प्रव्रज्य— गृह त्याग कर; गाम्— पृथ्वी पर; पर्यटमानः— पर्यटन करते हुए; इत्थम्— इस प्रकार से; निराकृतः— अपमानित; असद्विः— धूर्तों द्वारा; अपि— भी; स्व-धर्मात्— अपने नियत कार्यों से; अकम्पितः— विचलित हुए बिना; अमूं— यह; मुनिः— साधु ने; आह— गाया; गाथाम्— गीत।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : अपनी सम्पत्ति नष्ट होने से इस तरह विरक्त हुए इस साधु ने अपनी खिन्नता त्याग दी। उसने संन्यास ग्रहण करके घर त्याग दिया और पृथ्वी पर विचरण करने लगा। वह मूर्ख धूर्तों द्वारा अपमानित किये जाने पर भी अपने कर्तव्य में अविचल रहा और उसने यह गीत गाया।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन से छूट कर जिसमें धनार्जन के लिए घोर तपस्याएँ सम्मिलित हैं, वैष्णव संन्यासी के इस गीत को गाया जा सकता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति इस संन्यासी के गीत को सुन नहीं सकता, तो वह निश्चय ही माया का आज्ञाकारी दास बना रहेगा।



सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः ।  
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

सुख-दुःख-प्रदः—सुख तथा दुख देने वाला; न—नहीं है; अन्यः—कोई दूसरा; पुरुषस्य—आत्मा का; आत्म—मन का;  
विभ्रमः—मोह; मित्र—मित्र; उदासीन—अन्यमनस्क लोग; रिपवः—तथा शत्रु; संसारः—भौतिक जीवन; तमसः—अज्ञानवश;  
कृतः—उत्पन्न ।

मनुष्य का अपना ही मानसिक भ्रम आत्मा को सुख तथा दुख का अनुभव कराता है, अन्य कोई नहीं। मित्रों, निरपेक्ष लोगों तथा शत्रुओं के विषय में उसकी धारणा तथा इस धारणा के चारों ओर जिस भौतिक जीवन का वह निर्माण करता है, सभी मात्र अज्ञान के कारण उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : हर व्यक्ति अपने मित्रों को प्रसन्न करना, शत्रुओं को परास्त करना तथा तटस्थ लोगों से यथास्थिति बनाये रखना चाहता है। ये सारे सम्बन्ध भौतिक शरीर पर अवलम्बित होते हैं और शरीर की अनिवार्य मृत्यु के बाद उनका अस्तित्व नहीं रह पाता। ये अविद्या या मोह कहलाते हैं।

तस्मात्सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया ।  
मय्यावेशितया युक्त एतावान्योगसङ्ग्रहः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; सर्व-आत्मना—सभी तरह से; तात—हे उद्भव; निगृहाण—वश में करो; मनः—मन; धिया—बुद्धि से;  
मयि—मुझमें; आवेशितया—लीन हुआ; युक्तः—संयुक्त; एतावान्—इस प्रकार; योग-सङ्ग्रहः—आध्यात्मिक अभ्यास का सार ।

हे उद्भव, तुम्हें चाहिए कि अपनी बुद्धि मुझ पर स्थिर करके अपने मन को पूरी तरह से वश में लाओ। योग के विज्ञान का सार यही है।

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः ।  
धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई भी; एताम्—इस; भिक्षुणा—संन्यासी द्वारा; गीताम्—गाया हुआ; ब्रह्म—ब्रह्म-ज्ञान; निष्ठां—पर आधारित;  
समाहितः—पूरे ध्यान से; धारयन्—ध्यान करते हुए; श्रावयन्—अन्यों को सुनाते हुए; शृण्वन्—स्वयं सुनते हुए; द्वन्द्वैः—द्वैतों से; न—कभी नहीं; एव—निस्सन्देह; अभिभूयते—अभिभूत हो जायेगा ।

जो कोई भी संन्यासी के इस गीत को सुनता या अन्यों को सुनाता है, जिसमें ब्रह्म विषयक वैज्ञानिक ज्ञान प्रस्तुत हुआ है तथा इस तरह जो कोई पूरे मनोयोग से इसका ध्यान करता है, वह

फिर कभी भौतिक सुख-दुख के द्वैत से अभिभूत नहीं होगा।

तात्पर्य : उस वैष्णव संन्यासी ने भगवद्भक्ति की शरण ग्रहण की थी, इसलिए वह अपने आराध्य भगवान् की माया पर विजय पा सका। उसने स्वयं इस गीत का ध्यान किया और इसे सुना और अन्यो को भी इसकी शिक्षा दी। भगवत्कृपा प्राप्त करके उसने अन्य बद्धजीवों को दिव्य बुद्धि का प्रकाशदिया जिससे वे भगवद्भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण कर सकें। धर्म का वास्तविक अर्थ है भगवान् का शुद्ध भक्त बनना। जो लोग भौतिक जगत का भोग करना चाहते हैं या निजी असुविधाओं से बचने के लिए इसका त्याग करना चाहते हैं, वे वस्तुतः भगवत्प्रेम को समझ नहीं सकते जिसका एकमात्र लक्ष्य भगवान् की तुष्टि है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत “अवन्ती ब्राह्मण का गीत” नामक तेईसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।